

प्राचीन जैन साहित्य में वर्णित सल्लेखना और संथारा

प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन, उदयपुर

जैन धर्म में सल्लेखना का विस्तार से वर्णन करने वाला प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ भगवती आराधना है। भगवती आराधना के लेखक शिवकोटि अथवा शिवार्य प्राचीन दिगम्बर आचार्य थे। इस ग्रन्थ का नाम आराधना अथवा मूलाराधना भी प्राप्त होता है। शिवार्य को अनेक दिगम्बर आचार्यों ने आदरपूर्वक स्मरण किया है।¹ इससे ज्ञात होता है कि शिवार्य और उनका ग्रन्थ दोनों की अच्छी प्रसिद्धि थी। श्री पंडित नाथूराम प्रेमी शिवार्य को यापनीय संघ का आचार्य स्वीकार करते हैं और उनके गुरु का नाम सर्वगुप्त मानते हैं।² किन्तु अब विद्वानों ने शोध के उपरान्त आचार्य शिवार्य को दिगम्बर जैन आचार्य स्वीकार किया है। प्रोफेसर रतनचन्द्र जैन ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है।³ विद्वानों ने शिवार्य का समय ई. सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना है।⁴ इनके ग्रन्थ भगवती आराधना पर 7वीं-8वीं शताब्दी में अपराजितसूरी द्वारा लिखी टीका उपलब्ध है।

समाधिमरण—सल्लेखना—

सल्लेखना में आन्तरिक सल्लेखना का महत्व सर्वाधिक है। अनेकविध शरीर—सल्लेखना को करते हुए भी क्षणिक एक क्षण के लिए भी परिणामों की विशुद्धि को न छोड़े। कषाय से क्लुषित मन में परिणामों की विशुद्धि नहीं होती और परिणामों की विशुद्धि ही कषाय सल्लेखना कही गई है।⁵ सम्यक् रीति से शरीर और कषायों को कृश करना सल्लेखना है। शरीर बाह्य हैं और कषायें अभ्यन्तर हैं। आहार को धीरे-धीरे घटाने से शरीर कृश होता है और कषायों के कारणों से बचने से कषायें कृश होती हैं। सल्लेखना में दोनों शरीर और कषायों का कृश करना आवश्यक है। कषायों को कृश किये बिना केवल काया को कृश करना काया का शोषण है, जो निष्फल और निरर्थक है। सल्लेखना समाधि और ध्यान इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। ध्यान की परिष्कृत और विशुद्ध अवस्था सल्लेखना है।

समाधिमरण है मृत्युमहोत्सव

भगवती आराधना में समाधिमरण, सल्लेखना—विधि का सविस्तार वर्णन है। इस विधि से मरण को ही जैनधर्म में मृत्यु महोत्सव और प्रशस्त मरण कहा गया है। प्रभुनाम स्मरणपूर्वक हँसते-हँसते देह-विसर्जन करना ही मृत्युमहोत्सव है। जैन धर्म कहता है कि तुम मरने के लिए जियो ताकि ऐसा जीवन जी सको जिसमें तुम्हारा मरण चेतन अवस्था में भगवान अरहन्त का नाम लेते हुए हो सके। मूलाचार में कहा गया है कि—जो अरहन्त भगवान और णमोकार मंत्र का भावपूर्वक स्मरण करते हुए मृत्यु को प्राप्त करता है वह शीघ्र ही सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। ऐसा सार्थक मरण सल्लेखना या समाधिमरण कहलाता है। ग्रन्थ में तीन प्रकार के मरण का वर्णन है।⁶ सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृश करने का नाम सल्लेखना है। बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् शरीर और रागादि कषायों को उनके कारणों को क्रमशः कम करते हुए स्वेच्छापूर्वक कृश करने का नाम सल्लेखना या समाधि मरण है। कहा भी है कि—बहुतकाल तक किये हुए उग्र तपों का, पाले हुए व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्र का एक मात्र फल समाधिमरण प्राप्त करना है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में सल्लेखना को आराधना कहा गया है। ऐसी आराधना से परम सुख प्राप्त होता है।⁷ पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है कि मरण के अन्त में मरते समय मैं अवश्य ही विधिपूर्वक सल्लेखना को करूँगा: इस प्रकार की भावना में परिणत श्रावक को अनागत भी यह सल्लेखना रूप शीलव्रत का पालन करना चाहिए।⁸ मरण का अन्तकाल जिसका प्रयोजन है ऐसी सल्लेखना को मारणान्तिकी कहते हैं। बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का क्रम से उनके कारणों को घटाते हुए सम्यक् प्रकार से क्षीण करना सल्लेखना कहलाती है। निष्प्रतीकार उपसर्ग आने पर,

दुर्भिक्ष पड़ने पर और बुढ़ापा आ जाने पर धर्म की रक्षा के लिए शरीर का त्याग करना सल्लेखना है।⁹ संसार में जन्म लेना स्वाभाविक है किन्तु बार-बार जनम लेना पाप का सूचक है। सुखों की उत्तम अवस्था मोक्ष है जिसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति भावना करता है कि—मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधि का लाभ हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान के गुणों की सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो।

**दुक्खक्खय कम्मक्खय समाधिमरणं च बोधिलाभो य ।
एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं ॥**¹⁰

सल्लेखना का स्वरूप :-

जैन धर्म में मरण की सार्थकता और वीतरागता की कसौटी के रूप में सल्लेखना की स्वीकृति है। सल्लेखना शब्द सत् + लेखना का निष्पन्न रूप है। सत् का अर्थ है सम्यक् रूप से तथा लेखना का अर्थ है कृश या दुर्बल करना। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सल्लेखना का लक्षण करते हुए लिखा है—**“सम्यक्कायकषाय लेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापन क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।”**¹¹ अर्थात् अच्छी तरह से काय और कषायों को कृश करने का नाम सल्लेखना है। सल्लेखना में बाह्य शरीर एवं आन्तरिक कषायों को उनके कारणों का त्याग करके क्रमशः कृश किया जाता है। चारित्रसार आदि अन्य श्रावकाचारों में सर्वाथसिद्धि के लक्षण की ही भावात्मक अनुकृति दृष्टिगोचर होती है। प्रायः श्रावकाचार विषयक सभी ग्रन्थों में जीवन के अन्त में सल्लेखना धारण करने का विधान श्रावक के लिए भी किया गया है। कतिपय ग्रन्थों में सल्लेखना के स्थान पर संन्सायमरण या समाधिमरण शब्द का प्रयोग मिलता है। भगवती आराधना में भक्तप्रत्याख्यान के माध्यम से काय एवं कषाय का कृशीकरण स्वीकार किया गया है, अतः उसमें भक्त प्रत्याख्यान ही सल्लेखना है।¹²

सल्लेखना का अर्थ

आचार्य शिवार्य ने सल्लेखना के लिए प्राकृत सल्लेहण शब्द प्रयुक्त किया है। टीकाकार अपराजित सूरि ने सल्लेखना का अर्थ दिया है— **सम्यक् तनूकरणं** अर्थात् कषाय और शरीर को सम्यक् रीति से कृश करना सल्लेखना है।¹³

आचार्य पूज्यपाद ने इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है जैसे व्यापारी को अपने व्यापार के केन्द्र का विनाश इष्ट नहीं होता क्योंकि उसके नष्ट होने पर उसका व्यापार नष्ट हो जाता है। यदि किसी कारणवश उसके केन्द्र में आग लग जाये तो वह उसको बुझाकर उसकी रक्षा करने का ही प्रयत्न करता है। किन्तु यदि उसको बचाना शक्य नहीं होता तो उसमें भरे हुए माल को बचाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार व्रत-शील रूपी द्रव्य के संचय में लगा हुआ साधु या गृहस्थ भी अपने शरीर को नष्ट नहीं करना चाहता, क्योंकि वह धर्म का साधन है। यदि शरीर नष्ट होने के कारण उपस्थित होते हैं तो अपने धर्म के अविरोध उपायों से शरीर की रक्षा करने का प्रयत्न करता है, किन्तु यदि वह प्रयत्न सफल नहीं होता तो शरीर की रक्षा का प्रयत्न त्यागकर अपने धर्म की रक्षा का प्रयत्न करता है।¹⁴

आगमकार कहते हैं कि न जीवन की चाह न मृत्यु की चाह, न इस लोक के सुखों की, यश की मान-सम्मान की चाह, न मरणोपरान्त परलोक के सुखों की अभिलाषा तथा न ही काम भोगों, सांसारिक प्राप्तियों की चाह, साधक इस प्रकार इन 23 बातों (18 पाप + आहार + 1 यह शरीर) का त्याग कर प्राणों के रहते ही समस्त इच्छाओं, तृष्णाओं का त्याग कर आत्मभावों में रमण करते हुए जिस सहज मरण को प्राप्त करता है इसी का नाम समाधिमरण है, संथारा है, संलेखना है। यथा—**“इह लोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे।”** सम्यक् आत्मश्रद्धा संलेखना की नींव है अर्थात् देह व आत्मा की भिन्नता पर अटूट विश्वास का होना पंडितमरण का आधार है।

सल्लेखना की विधि

श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में सल्लेखना धारण करने की विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। आचार्य **समन्तभद्र** कथन है कि सल्लेखना धारण करते हुए कुटुम्ब मित्र आदि से स्नेह दूर कर , शत्रुको से वैरभाव हटाकर बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्यागकर शुद्ध मन वाला होकर स्वजन एवं परिजनों को क्षमा करके, प्रिय वचनों के द्वारा उनसे भी क्षमा माँगे तथा सब पापों की आलोचना करके सल्लेखना धारण करें क्रमशः अन्नाहार को घटाकर दूध, छाँछ, उष्ण जल आदि को ग्रहण करता हुआ उपवास करें अन्त में पञ्चनमस्कार को जपते हुए सावधानीपूर्वक शरीर को त्यागे।¹⁵ श्री **सोमदेवसूरि** का कहना है कि सल्लेखनाधारी को उपवासादि द्वारा शरीर को तथा ज्ञानभावना द्वारा कषायों को कृश करना चाहिए।¹⁶ वसुनन्दिश्रावकाचार, श्रावकाचारसारोद्धार, चारित्रसार आदि श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में सल्लेखना की विधि में रत्नकरण्डश्रावकाचार का ही अनुकरण किया गया है।

समाधिमरण कब किया जाता है

लगभग दो हजार साल पहले के शास्त्रों में सल्लेखना की यह परिभाषा लिखी गई कि— 'उपद्रव में फँस जाने पर, दुर्भिक्ष के काल में, वृद्धापन में अत्यंत अशक्त हो जाने पर या कोई भयंकर और असाध्य रोग हो जाने पर, जब इन कठिन परिस्थितियों के निवारण का कोई उपाय कारगर न हो तब, अपने संयम और धर्म की रक्षा के लिये देह का उत्सर्ग कर देना सल्लेखना कहलाता है—'¹⁷

**उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तन विमोचन—माहुर्सल्लेखनामार्या ॥**

इसके लिए एक सुन्दर रूपक का प्रयोग हुआ है। क्षपक साधु रूपी व्यापारी को दीक्षा रूपी गाड़ी पर साधुओं के संघ के साथ चढ़कर निर्वाण रूपी भाण्ड के लिए सिद्ध पुरी की ओर प्रस्थान करना चाहिए। उस दीक्षा रूपी गाड़ी में समिति रूपी बैल जुड़ हैं, तीन गुप्ति रूपी उसके मजबूत चक्के हैं, रात्री भोजन से निवृत्ति रूप दो दीर्घ दण्डे हैं, सम्यक्त्व रूपी अक्ष है और समीचीन रूपी धुरा है। आचार्य उस संघ के नायक है, जो निरन्तर सावधान है। उनके द्वारा बार—बार सन्मार्ग में लगाया गया वह आराधक साधु समुदाय संसार रूपी महावन को पार करता है। वह संघ प्रति आचार्य अपने द्वारा भावना आदि में नियुक्त उस साधु समुदाय की इन्द्रिय रूपी चोरों से और कषाय रूपी अनेक जंगली हिंसक जानवरों से रक्षा करता है।

सल्लेखना स्वीकार करने के पश्चात् की विधि—

सल्लेखना स्वीकार करने के पश्चात् साधक अपने मन को शोक, भय, विषाद, क्लेश, कालुष्य और अरति भाव को भी छोड़कर बल और उत्साह को प्रकट कर अमृतमय श्रुत के वचनों से प्रसन्न रखे। साथ ही क्रम से अन्न आहार को घटाकर दुग्धदि रूप स्निग्ध पान को बढ़ावे। पुनः क्रम से स्निग्ध पान को भी घटाकर, छाँछ—उष्ण जल आदि खर—पान को बढ़ावे। पुनः धीरे—धीरे खर—पान को घटाकर और अपनी शक्ति के अनुसार उपवास को भी करके पंच नमस्कार मंत्र को मन जपते और उसका चिन्तन करते हुए सम्पूर्ण प्रयत्न के साथ सावधानीपूर्वक शरीर को छोड़े।¹⁸ यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में इसका क्रम इस प्रकार बताया है—¹⁹

- 1— कुटुम्बियों से स्नेह छोड़ना।
- 2— सम्पत्ति से मोह छोड़ना।
- 3— जिन्होंने अपना बुरा किया हो उनके प्रति कलुषभाव को छोड़ना।
- 4— आचार्य/ मुनि के समक्ष अपने सब अपराधों को कहना।
- 5— समाधिमरण के योग्य विधि आचार्य द्वारा निर्दिष्ट का पालन करना।
- 6— क्रमशः धीरे—धीरे भोजन छोड़कर दूध, छाँछ वगैरह लेना।
- 7— दूध, छाँछ का त्यागकर गर्म जल ग्रहण करना।
- 8— अन्त में गर्म जल का भी त्यागकर पंच नमस्कार का स्मरण करते हुए शरीर का विसर्जन करना।

समाधिमरण और कायोत्सर्ग

समाधि मरण के पूर्व कायोत्सर्ग करना आवश्यक है। जैन धर्म में कायोत्सर्ग को अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया माना है। हर श्रावक—श्राविका, साधु—साध्वियां यहाँ तक कि आचार्य एवं उपाध्याय भी प्रतिदिन प्रतिक्रमण के माध्यम से कायोत्सर्ग करते हैं। कायोत्सर्ग का सामान्य अर्थ है— काया का त्याग करना। यह भाव क्रिया है क्योंकि आयु रहते हुए काया का त्याग नहीं किया जा सकता है। परन्तु साधक काया के प्रति मोह को छोड़ता है वह सोचता है कि न यह शरीर मेरा है न मैं इसका हूँ। गजसुकुमाल के मस्तिष्क ललाट पर जलते हुए जब अंगारे रखे गये, तब वे ध्यानस्थ खड़े रहे, न राग था, न द्वेष था। बैरी के प्रति भी कोई दुर्भाव नहीं और अपने शरीर के प्रति भी कोई राग नहीं। श्री पार्श्वनाथ जी अपने पूर्व भव में अपना अन्तिम समय जानकार संलेखना पूर्वक ध्यान में बैठ गये थे, उपसर्ग होने पर भी ध्यान में समभाव में वे तल्लीन रहे। इस प्रकार कायोत्सर्ग एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने शरीर के प्रति मोह ममत्व के भाव को गलाने का प्रयास करता है। प्रतिक्रमण सूत्र के माध्यम से चतुर्विध संघ कायोत्सर्ग का संकल्प लेते हैं।²⁰ अवन्ति सुकुमाल स्वामी आदि सल्लेखना धारियों की कथाएं उत्कृष्ट कायोत्सर्ग के उदाहरण जैन साहित्य में उपलब्ध हैं।

समाधिमरण स्थल

जैन इतिहास के अनुसार दक्षिण में श्रवणबेलगोला में आज भी आचार्य भद्रबाहु व चंद्रगुप्त के समाधि स्थल हैं। और वहाँ जैन दर्शन के अनुसार हजारों श्रमणों, श्रावक व श्राविकाओं ने सल्लेखना ग्रहण की। राष्ट्रकूट वंश के सम्राट इन्द्र चतुर्थ और गंगवंश के सम्राट मारसिंह गुत्तिय गंग शिथिलता आने पर सल्लेखना के लिए। वर्ष पूर्व ही राजपद का त्याग कर अजितसेन भट्टारक के पास बांकापुर चले गए और वहाँ समाधिमरण किया।²¹

महारानी शांतला देवी व उनकी माँ माचिकब्बे ने भी जैन दर्शन के अनुसार सल्लेखना धारण करके शांत परिणामों से देह का त्याग किया। इस तरह जैनधर्म में सल्लेखना की परंपरा प्राचीन काल से अब तक बराबर चलती आ रही है। वह आत्मबल बढ़ाने का साधन है। कषाय व वासना से उसका कोई संबंध नहीं है। सल्लेखना हठात् मरण का नहीं बल्कि सफल जीवन जी कर जब मरण बेला आए तो उस समय वीर भाव से परलोक सिंघारने का पाठ पढ़ाने के लिए स्वर्णिम सूत्र है।

तिर्यच जीवों की सल्लेखना

जैन पुराणों में उल्लेख है कि त्रिलोककष्टक नामक हाथी ने भी सल्लेखना पूर्वक मरण किया था। महामुनि देशभूषण केवली ने इस गजराज को विधिपूर्वक अणुव्रत धारण कराये थे। इस प्रकार वह हाथी गृहस्थ धर्म सहित हो गया था। वह पक्ष और मास—मास के उपवास करता था। उपवास के बाद स्वयं पवित्र शुष्क पत्तों से पारणा करता था। संसार से भयभीत होकर रहता था। मनुष्य उसका आदर करते थे। उसे पारणा के समय मिष्ठ पकवान और पूरियाँ खिलाते थे। उसके शरीर और शारीरिक कर्म दोनों क्षीण हो गये थे। उसने संवेग धारण कर चार वर्ष तक उग्र तप धारण किया था। धीरे धीरे उसने आहार का परित्याग करके उग्र तपश्चरण करते हुए सल्लेखनापूर्वक मरण कर ब्रह्मोत्तर स्वर्ग पाया था। आठवीं सदी के प्राकृत ग्रन्थ कुवलयमालाकहा में एक पक्षी के समाधिमरण का विस्तार से वर्णन है।²² इस उल्लेख से सिद्ध है कि तिर्यच जीव भी समाधिमरण पूर्वक अपना कल्याण कर सकते हैं।

सल्लेखना के अतिचार—

सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं—

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदान नामानः ।

सल्लेखनातिचाराः पन्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥²³

अर्थात् जीने की आकांक्षा करना, मरने की आकांक्षा करना, परीषह—उपसर्गादि से डरना, मित्रों का स्मरण करना और आगामी भव में सुख—पाने के लिए निदान करना ; ये सल्लेखना के पाँच अतिचार है।

1— **जीविताशंसा**— शरीर अवश्य ही हेय है, जल के बुलबुले के समान अनित्य है ; यह जानते हुए भी इसका अवस्थान कैसे हो ; इस प्रकार जीने के प्रति आदर रखना जीविताशंसा है। आशंसा, आकांक्षा और अभिलाषा ये सब एकार्थक नाम हैं।

2— **मरणाशंसा**— रोग या उपद्रव के आ जाने से आकुलित होकर जीवन में संक्लेश प्राप्त होने पर मरण के प्रति चित्त को लगाना मरणाशंसा है।

3— **मित्रानुराग**—जो व्यसन कष्ट के समय सहायक और उत्सव के समय हर्ष मनाने वाले तथा अन्य अनेक प्रकार सुकृत के करने वाले, बचपन में धूलि पर साथ खेलने वाले इत्यादि नाना प्रकार के मित्रों का स्मरण करना मित्रानुराग है।

4— **सुखानुबन्ध**— मैंने अपने जीवन में ऐसे भोजन किए, ऐसी शय्याओं पर शयन किया, ऐसे खेल खेले ; इत्यादि पूर्वकालीन प्रीति विषयक बातों को बार—बार याद करना सुखानुबन्ध है।

5— **निदान**— उत्कृष्ट विषयसुख पाने की अभिलाषा और भोगों की आकांक्षा से जिसके लिए या जिसमें नियम रूप से चित्त को दिया जाय अर्थात् लगाया जाय, उसे निदान कहते हैं।²⁴

इस प्रकार की सल्लेखना में देह विसर्जन को देखकर कुछ लोग इसे आत्मघात या आत्महत्या कहते हैं ; किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि दोनों के कारण और लक्षणों में मौलिक अन्तर है।

सल्लेखनाधारी के मन में जीवन के प्रति अगाध प्रेम भी नहीं होता, अपितु वह जीवन और मृत्यु के प्रति समभाव धारण करता है। ऐसी स्थिति में ही उसका श्रामण्य सफल होता है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी के अनुसार " **जीविद मरणे समो समणो** " अर्थात् श्रमण जीवन और मरण में सम रहता है।

सल्लेखना का फल

सल्लेखना के फलस्वरूप निःश्रेयस और अभ्युदय फल की प्राप्ति होती है—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।

निष्पिबति पीतधर्मा सर्वेर्दुखैरनालीढः ॥²⁵

अर्थात् जिसने रत्नत्रयरूप धर्म का पान किया है, ऐसा पुरुष सर्व दुःखों से रहित होकर उस निःश्रेयस रूप सुख के सागर का अनुभव करता है, जो निस्तीर है—जिसका अन्त नहीं है और जो अतिदुस्तर है—जिसका पाना अति कठिन है, ऐसे अहमिन्द्रादि पदरूप अभ्युदय भी अनुभव करता है। अर्थात् सल्लेखना करने वाला संसार के सर्व अभ्युदय सुख को भोगकर अन्त में मोक्ष सुख को भोगता है।

वारस—वएहिं जुत्तो सल्लिहणं जो कुणेदि सवसंतो ।

सो सुरसोक्खं पाविय कमेण सोक्खं परं लहदि ॥²⁶

अर्थात् जो श्रावक बारह व्रतों को पालता हुआ जीवन के अन्त में कषायों को उपशान्त करता हुआ सल्लेखना करता है वह स्वर्ग के सुख को पाकर क्रम से मोक्ष के परम सुख को प्राप्त करता है।

जो श्रावक व्रतों को अतीचार रहित शुद्ध पालन करता हुआ जीवन के अन्त में परम आराधना अर्थात् सल्लेखना को धारण कर मरण करता है वह अच्युत स्वर्ग में देवों से सेवित इन्द्र होता है।

यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में कहा गया है—

आराध्य रत्नत्रयमित्थमर्थी समर्पितात्मा गणिने यथावत् ।

समाधि भावेन कृतात्मकार्यः कृती जगन्मान्य पदप्रभुः स्यात् ॥²⁷

अर्थात् आचार्य के ऊपर विधिवत् अपना भार सौंपकर तथा रत्नत्रय की आराधना करके जो समाधिमरण करता है वह संसार में पूजनीय पद का स्वामी तीर्थकर होता है। भगवती आराधना का कथन है कि—

सव्वुक्कसं जोगं जुजंता दंसणे चरित्ते य ।
 कम्मरय विप्पमुक्का हवन्ति आराधया सिद्धा ॥
 इयमुक्कस्सियमाराणमणुपलित्तु केवली भविया ।
 लोगगसिहरवासी हवन्ति सिद्धा धुय किलेसा ॥ ²⁸

अर्थात् सबसे अत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक्चारित्र को प्राप्त करके वे आराधक कर्मरूपी रज से अर्थात् शेष चार अघाति कर्मों से छूटकर सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट आराधना का पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशों से छूट जाते हैं और लोक के शिखर पर विराजमान होते हैं।

सल्लेखना विधि में मात्र मरण करना ही साधक का बाह्य लक्ष्य नहीं होता है अपितु मरण पर समतापूर्वक विजय प्राप्त कर मरण के अंत करने का भाव होता है। अर्थात् हम उस सिद्धत्व को प्राप्त करना चाहते हैं जहाँ जन्म—मरण, आवागमन छूट जाता है। बाहर शरीर कृष होता है मलीन होता है लेकिन अंतरमें एक प्रकाश एक आभा फैलती है जो हमारे रोम—रोम को प्रकाशित करती है और हमारे तप का प्रभामंडल इस प्रकार का हो जाता है कि हम मात्र एक दिव्य प्रकाश का दर्शन करते हैं जिसमें हम सिर्फ अपने आत्मा के दर्शन करते हैं जो समस्त विकारों विचारों से निर्भर है। सल्लेखना का धारक निरंतर प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओं का स्मरण करता हुआ कर्मों की निर्जरा करता है। ऐसी भावनाओं का स्मरण ही इस तथ्य का सूचक है कि साधक को कषायों से मुक्त होकर या उन पर विजय प्राप्त करके अपनी आत्मा को परमात्मा की ऊँचाईयों पर ले जाना है।

प्राचीन श्वेताम्बर आगम—ग्रन्थों में समाधि—मरण के विवरण

आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपङ्कणा,, संथारगपङ्कणय और मरणसमाधि प्रकीर्णक ग्रन्थों में लगभग वही विषय है जो भगवती आराधना में है। इनमें अनेक गाथायें बिल्कुल समान हैं। एक गाथा दृष्टव्य है—

वेरुलिउव्व मणीणं गोसीस चंदण व गंधाणं ।

जह व रयणेसु वडरं तह संथारो सुविहियाणं ॥ —भक्तपङ्कणा गाथा

वदूरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदण स गंधेसु

वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ॥ —भगवती आ. गाथा 1890

इन प्रकीर्णक ग्रन्थों में भगवती आराधना की तरह ही अनेक कथायें दी गई हैं। भगवती आराधना से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि समाधि सम्बन्धी बहुत थोड़ा वर्णन इन ग्रन्थों में है। भगवती आराधना में सभी विषयों का विस्तार से वर्णन है। मरणोत्तर क्रिया ध्यान लिंग का वर्णन इनमें नहीं है। अपना संघ छोड़कर निर्यापकाचार्य को खोजने का भी कोई वर्णन इसमें नहीं है। जबकि भगवती आराधना में आराधना से लेकर निर्वाण तक का वर्णन विस्तार से है। ²⁹

श्वे. आगम भगवतीसूत्र, शतक 13, उद्देशक 7 में मरण के पाँच प्रकारों में 'पण्डित मरण' को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। औपपातिकसूत्र 57 में कहा गया है—“अपच्छिमा मारणंतिआ संलेणा झूसणा—आराहणा” (अन्तिम समय में संलेखना की आराधना करें)। तत्त्वार्थसूत्र में वर्णन आया है—“मारणन्तिकी संलेखना जोषिता।” इसके अतिरिक्त उत्तराध्ययनसूत्र, स्थानांगसूत्र आदि में भी 'संलेखना संथारा' अथवा 'पंडितमरण' पर विशद व सूक्ष्म चर्चा मिलती है। प्रमुख ग्रन्थ हैं—

1. आचारांगसूत्र प्रथम श्रुतस्कंध के आठवें अध्याय
2. स्थानांगसूत्र के द्वितीय स्थान के चतुर्थ उद्देशक

3. **समवायांगसूत्र** के दसवें समवाय में दस समाधिस्थानों में केवली मरण समाधि का उल्लेख है। **भगवतीसूत्र** के शतक 2 उद्देशक 1 में बालमरण और पण्डितमरण का, शतक 7 उद्देशक 2 में संलेखना का, शतक 13 उद्देशक 7 में पांच प्रकार के मरण का वर्णन है।
4. **उत्तराध्ययनसूत्र** के पाँचवें अध्ययन अकाममरणीय में सकाम या पंडितमरण (समाधिमरण) तथा अकाममरण का वर्णन है। मृगापुत्र नामक 19वें अध्यय में मृगापुत्र में संलेखना संथारा ग्रहण किया था।³⁰

ज्ञाताधर्मकथा, अराधनापताका एवं संवेगरंगशाला आदि प्राचीन ग्रन्थों में समाधिमरण, संथारा और पंडितमरण के विभिन्न प्रसंग वर्णित हैं।³¹

प्राचीन दिगम्बर आगम-ग्रन्थों में सल्लेखना के प्रसंग

मूलाचार में कहा गया है कि सल्लेखना आत्मरक्षा के लिए शरीर का विसर्जन है। धैर्यवान को भी अवश्य मरना होगा और धैर्य रहित को भी अवश्य मरना होगा। जब दोनों को ही मरना है तो फिर धीरता से ही मरना उचित है।³² सल्लेखनधारी धैर्यपूर्वक मृत्यु की ओर बढ़ता है किन्तु मरने के लिए उतावलापन नहीं दिखाता है। यहाँ तक कि जल्दी मरने की इच्छा को अतिचार माना गया है।

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।

जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ।।

दिगम्बर आचार्य वट्टकेर को विद्वानों ने ईसा की प्रथम शताब्दी का रचनाकार स्वीकार किया है। उनके द्वारा रचित प्राकृत ग्रन्थ मूलाचार श्रमणाचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु पर विभिन्न दृष्टियों से विद्वानों ने शोध आलेख लिखे हैं। मूलाचार में मूनि अपनी साधना के अंतिम समय में किस प्रकार अपने मरण को सार्थक बनाये और धैर्यपूर्वक मरण का स्वागत करे इसका विधान किया गया है। यथा—

तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च ।

तइयं पडियंमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ।।

केवली परम ज्ञान के धारी होते हैं। उनका राग-द्वेष समाप्त होता है। अतः ऐसे श्रमण परम्परा के सन्तों, वीतरागियों, परम ज्ञानियों के द्वारा संलेखना पूर्वक पंडितमरण को स्वीकारना जैन धर्म की सबसे प्राचीन तपस्या का एक धार्मिक विधान है, अंग है, कोई नई परम्परा या प्रथा नहीं है। ऐसे पंडितमरण पूर्वक अपनी साधना को पूरा करने वाला साधू कमशः निर्वाण को प्राप्त कर लेता (गा. 97) है।

मूलाचार में समाधिमरण और पंडितमरण तथा केवलीमरण शब्दों का प्रयोग आचार्य वट्टकेर ने किया है। समाधिमरण को उपलब्ध जीव सात या आठ भवों के बाद सर्वश्रेष्ठ निर्वाण को प्राप्त कर लेता है (गा. 118)। एक ही पंडितमरण बहुविध सौ जन्मों को समाप्त कर देता है। इसलिए ऐसा मरण करना चाहिए जिससे मरण सुमरण हो जाय (गा. 117)। आचार्य ने गाथा 59 में तीसरे प्रकार के पंडितमरण को **केवलीमरण** भी कहा है, अर्थात् केवलियों द्वारा प्राप्त मरण पंडितमरण है। ऐसे उत्कृष्ट मरण करने वाला आराधक ममत्व, अहंकार, कषाय, निदान आदि से रहित जितेन्द्रिय, धीर और सम्यग्दृष्टी होता है। यथा—

णिमम्मो णिरहंकारो णिक्कसायो जिदिदिओ धीरो ।

अणिदाणो दिट्ठीसंपण्णो मरंतो आराहओ होइ ।।—गा.103

आचार्य कुन्दकुन्द जैन धर्म के प्राचीन साधक एवं समर्थ साहित्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। विद्वानों ने इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी स्वीकार किया है।³³ आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ नियमसार में कहा है कि साधना के परम क्षणों में जो साधक साधु शरीर आदि पर द्रव्यों में स्थिर भाव को छोड़कर आत्मा का ध्यान करता है, वही उसका कायोत्सर्ग (शरीर के राग को छोड़ना) है। यथा—

कायाई परदव्वे थिरभावं परहरत्तु अप्पाणं ।

तस्स हवे तणुसगं जो ज्ञायइ णिव्विअप्पेण ॥—नियमसार, गा. 121

ऐसा साधक साधु वचनों के उच्चारण आदि को छोड़कर वीतराग भाव से जब आत्मा का ध्यान करता है तो उसकी वह परम समाधि होती है। यथा—

वयणोच्चारण किरियं परिचत्ता वीयरायभावेण ।

जे ज्ञायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥—नियमसार, गा. 122

ऐसी समाधि द्वारा किया गया अंतिम मरण समाधिमरण है, पंडितमरण है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्तपाहुड में श्रावकों के व्रतों का वर्णन किया है। उस प्रसंग में उन्होंने चार शिक्षाव्रतों में संलेखना धारण करने को चतुर्थ शिक्षाव्रत कहा है। यथा—

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।

तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥— चारित्तपाहुड, गा. 26

आचार्य शिवार्य, आ. देवसेन, अजितसेन एवं आचार्य वसुनन्दि भी संलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत कहते हैं। दिगम्बर रचनाकार स्वामिकार्तिकेय ने प्राकृत ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जो श्रावक बारह व्रतों का पालन करता हुआ अन्त समय में सभी कषायों के उपशम भाव से सल्लेखना करता है, वह स्वर्ग के सुख प्राप्त करके कमशः उत्कृष्ट सुख मोक्ष को प्राप्त करता है। यथा—

बारस—वएहिं जुत्तो सल्लिहणं जो कुणेदि उवसंतो ।

सो सुर—सोक्खं पाविय कमेण सोक्खं परं लहदि ॥— गा. 369

रविषेणकृत पदमपुराण, जिनसेनकृत आदिपुराण, स्वयम्भुकृत पउमचरिउ, पुष्पदन्तकृत महापुराण आदि संस्कृत एवं अपभ्रंश के ग्रन्थों में समाधिमरण और पंडितमरण के विभिन्न प्रसंग वर्णित हैं।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है

सर्वाथसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने माना है कि सल्लेखना आत्मघात नहीं है।³⁴ जब यह शंका उपस्थित की गई कि—सल्लेखना में अपने अभिप्राय से आयु आदि का त्याग किया जाता है इसलिये यह आत्मघात हुआ ? तो इसका उत्तर समाधान देते हुए आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि सल्लेखना में प्रमाद का अभाव है। प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना हिंसा है ; यह पहले कहा जा चुका है परन्तु सल्लेखना लेने वाले के प्रमाद नहीं है क्योंकि इसके रागादिक नहीं पाये जाते। राग, द्वेष और मोह से युक्त होकर जो विष और शास्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है उसे आत्मघात का दोष प्राप्त होता है। परन्तु सल्लेखना को प्राप्त हुए जीव के रागादिक तो हैं नहीं इसलिए इसे आत्मघात का दोष नहीं प्राप्त होता। पुरुषार्थसिद्धपुयुपाय में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि अवश्यम्भावी मरण के समय कषायों को कृश करने के साथ शरीर के कृश करने में व्यापार करने वाले पुरुष को समाधिमरण रागादि भावों के नहीं होने से आत्मघात रूप नहीं है। हाँ, जो पुरुष कषायाविष्ट होकर कुम्भक (श्वास—निरोध) जल, अग्नि, विष और शस्त्रादिकों से प्राणों का घात करता है, उसका वह मरण सचमुच आत्मघात है।

मरणेऽवश्यम्भाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे ।

रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥

यो ही कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतु विषशस्त्रैः ।

व्यवरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥³⁵

सल्लेखना और आत्महत्या में स्पष्ट भिन्नता

आत्महत्या में आत्मा का पतन होता है, क्योंकि आत्महत्या के समय आत्मा तीव्र कषाय युक्त होती है जबकि संथारे में साधक अपने द्वारा किये गए सभी दोषों की आलोचना व सभी छः काया के

जीवों से क्षमायाचना करते हुए व्रत ग्रहण करता है, जिससे आत्मा के परिणाम ऊर्ध्वगामी होते हैं। आत्महत्या में व्यक्ति शरीर का अंत करता है, पर इच्छाएँ ज्यों की त्यों रहती हैं जबकि संथारे से पूर्व ही व्यक्ति की सभी इच्छाएँ, कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं। यहाँ तक कि साधक न मरने की न जीने की, न इस लोक में न परलोक के सुख की कामना करता है। समाधिभाव में लीन रहता है। यथा—

1. द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं गुणों के आधार पर संथारा एवं आत्महत्या में भारी अन्तर है। द्रव्य से आत्महत्या करने वाला जीव अग्नि, पानी, जहर, रस्सी आदि बाह्य पदार्थों का सहयोग लेता है। जबकि संथारा में ऐसी किसी भी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती है।
2. क्षेत्र की दृष्टि से आत्महत्या करने वाला छिपकर, अकेले में ऐसे कार्य को गति प्रदान करता है जबकि संथारा वाला जीव संघ साक्षी से सबके सामने हर्ष उल्लास के वातावरण में कार्य को पूरा करता है।
3. काल की दृष्टि से सीमित समय में आत्महत्या की क्रिया पूर्ण हो जाती है, जबकि संथारा एक सैकेण्ड से लेकर अधिकतम 6 मास में पूर्ण होता है।
4. आत्महत्या अशुभ भावों के संयोगों से होती है, आत्महत्या करने वाले की लेश्या अशुभ होती है तथा वह अकाल में मृत्यु को प्राप्त होता है। उसकी सद्गति नहीं होती है। इसके विपरीत संथारा वाला जीव शुभ भावों के साथ काल को प्राप्त करता है। जन्म-मरण को सीमित करते हुए संसार चक्र से मुक्त होने का भाव रखता है।
5. गुण की दृष्टि से आत्महत्या वालों की निन्दा होती है, जबकि संथारा वाला जीव यश कीर्ति को प्राप्त करता है। वह सभी के लिए प्रेरणा स्रोत बनता है।
6. भाव की दृष्टि से सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार आत्महत्या वाले के पीछे शोक व चिन्ता का वातावरण होता है, जबकि संथारा के पश्चात् सच्चिन्तन व समाधि के भाव रहते हैं।³⁶

डा. सुरेन्द्र कुमार जैन भारती ने सल्लेखना और आत्महत्या में जो अन्तर है उसको और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है—³⁷

1. आत्महत्या का अर्थ है कि जब जीवन से जो सुख मांगा वह नहीं मिला, जो मूल्य खोजे वह नहीं पाये जा सके। जो आशा की थी वह टूट गयी, जीवन ने अतृप्त कर दिया। जो इन्द्रधनुषी सतरंगी सपने जीवन के साथ बाँधे थे वे सब बिखर गये, और ऐसी हताशा में व्यक्ति स्वयं को मिटा लेता है। सल्लेखना आत्मघात के बिल्कुल विपरीत है। सल्लेखना साधना के द्वारा अर्जित करनी पड़ती है, उसे सम्भालना पड़ता है। जो साधना में अतिकुशल है वही सल्लेखना को सही सही उपलब्ध हो पाता है।
2. सल्लेखना मरण के अन्त में ग्रहण की जाती है इसकी अधिकतम अवस्था संभावित मृत्यु से 12 वर्ष पूर्व तक की हो सकती है। कहा भी है " मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता "। आत्मघात मरण के अन्तिम चरण में किया जाय; ऐसा कोई नियम नहीं है। भर जवानी में, बाल्यावस्था में भी व्यक्ति आत्मघात करते हुए देखे जाते हैं।
3. सल्लेखना में कषाय और काय शरीर का लेखन समापन किया जाता है। समाधिमरण सल्लेखना को कहते हैं, सम्यक् रीति से शरीर और कषाय को कृश करने का नाम सल्लेखना है। शरीर बाह्य है और कषाय अभ्यन्तर है। शरीर का साधन भोजन है। धीरे-धीरे आहार को घटाने से शरीर कृश होता है और कषाय के कारणों से बचने से कषाय घटती है। शरीर को सुखा डाला और क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं घटे तो शरीर का शोषण निष्फल है। आत्मघात करने वाले की कषाय प्रबल होती है क्योंकि जो राग-द्वेष या मोह के आवेश में आकर विष, शस्त्र, आग आदि के द्वारा अपना घात करता है वह आत्मघाती कहलाता है। सल्लेखना करने वाले के रागादि नहीं होते।
4. आत्मघात कषायाविष्ट होकर ही किया जाता है। अनेक बार ऐसा देखा गया है कि जिन्होंने आत्मघात का प्रयास किया और किसी के द्वारा बचा लेने पर जो सफल नहीं हो सके

उन्होंने बाद में बताया कि मैं भी मरना नहीं चाहता था लेकिन क्रोध में आकर मैंने यह कदम उठाया। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो एक बार आत्मघात करने से बच गये तो बाद में ऐसा करने के विषय में सोचा तक नहीं।

5. आत्महत्या में आत्मा केन्द्र में नहीं होती वहाँ तो शरीर का मरण ही मान्य है। वह आत्मा और शरीर में भेद ही नहीं करता। आत्मघात करने वाला उतावला रहता है कि कब उसके प्राण निकलें ? अनेक बार शरीर जन्य व्याधि से मुक्ति के लिए भी ऐसा करता है। वह धर्मसम्मत साता-असाता कर्म को नहीं मानता। जो जैसा करता है वैसा भरता है इस पर भी उसे विश्वास नहीं होता।
6. सल्लेखना करने वाले का आत्मबल बढ़ा होता है, कषायें मन्द रहती हैं। सल्लेखनाधारी सभी से अपने दोषों के लिए क्षमायाचना करता है। भगवती आराधना में कहा गया है कि-आयु का अंत निकट आने पर क्षपक अपने मस्तक पर दो हाथ रखकर सर्व संघ को नमस्कार करता है और साधर्मिकों में अनुराग उत्पन्न करता हुआ क्षमा ग्रहण करता है। मन, वचन, और शरीर के द्वारा जो जो अपराध मैंने किये हैं उनके लिए आप लोग मुझे क्षमा करो। मैं शल्य रहित हुआ हूँ।³⁸

अब्भहियजादहासो मत्थम्मि कर्दजली कादपणामो ।

खामेइ स्ववसंघं संवेगं संजणेमाणो ॥

मणवयणकायजोगेहं पुरा कदकारिदे अणुमदे वा ।

सव्वे अवराणपदे एस खमावेमि णिस्सल्लो ॥

इसके विपरीत आत्मघात करने वाले का आत्मबल क्षीण होता है। कषायें इतनी प्रबल होती हैं कि यदि वह स्वयं न मर पाये तो दूसरे को मार सकता है, मार डालता है। वह न किसी को क्षमा करता है, यहाँ तक कि स्वयं को भी क्षमा नहीं करता। कभी-कभी अपने अपराधों की ग्लानिवश भी आत्मघात कर लेता है। उसका अहंकार बढ़ा होता है। लोग क्या कहेंगे ? इस भय से भी व्यक्ति आत्मघात कर लेते हैं। आत्महत्या हत्या करने वालों की कषाय तीव्र होती है। कषाय के वशीभूत होकर रागद्वेष और मोह के आवेश में आकर जब विष, शस्त्र पर्वतपात, अग्निदाह, जल में डूबना, फांसी लगाना आदि द्वारा अपने प्राणों का घात किया जाता है तो वह आत्महत्या या आत्मघात कहा जाता है। यह एक प्रकार की हिंसा है, घोर पाप है।

इस प्रकार सल्लेखना आत्महत्या नहीं है। दोनों में मरण को देखकर जो लोग एक जैसा मानते हैं वे भ्रम में हैं। जिस प्रकार सूर्योदय के समय की लालिमा और सूर्यास्त के समय की लालिमा एक जैसी दिखाई देती है किन्तु एक जैसी प्रभावी नहीं होती। जहाँ सूर्योदय के समय की लालिमा प्रकाश की ओर ले जाती है वहीं सूर्यास्त के समय की लालिमा अंधकार की ओर ले जाती है। वास्तव में सल्लेखना सूर्योदय के समय की लालिमा है जिसका लक्ष्य आत्मप्रकाश है जबकि आत्महत्या सूर्यास्त के समय की लालिमा है जिसका ध्येय जीवनान्धकार है। अतः श्रेयस्कर है कि आत्मघात के कारणों से लड़े और आत्मघात से बचें तथा व्रताचरण के साथ अन्त में सल्लेखना का उपार्जन करें।

आसक्तियों से मुक्त होना संथारा

इस संसार में साधना के भिन्न-भिन्न स्वरूप एवं पथ हैं, लेकिन जैनदर्शन में सल्लेखना-संथारा आत्मतत्त्व से स्वयं को जोड़ने की ऐसी अंतिम महान् साधना है जो समूची पृथ्वी पर अद्वितीय व अलौकिक है। संलेखना-संस्थारा कोई हंसी-मजाक का खेल नहीं है वरन् इसका अनुकरण कोई-कोई भव्य आत्मा द्वारा पूर्ण होश-हवास में भीतर के समर्पण, अपनी तमाम सांसारिक इच्छाओं एवं राग-द्वेष को मिटाकर, छह काय के सभी जीवों से क्षमा-याचना कर पूर्ण समता व एकत्व की भावनाओं से की जाती है। संलेखना संथारा अपनी काया को मिटाने की साधना नहीं है, वरन् मिटती हुई काया से मोह-द्वेष को पूर्णतया निकालने की अन्तिम साधना है।

संथारा खुद में खुद के लीन होने की वह साधना है जिसे मृत्यु या खुदकुशी के समान मानना विडम्बना ही कहेंगे। संथारे में अपने जीवन के कण-कण को देखना, निहारना पड़ता है। तभी तो सारे

कषायों का अंत हो पाता है। कहीं किसी कोने में किसी से राग-द्वेष तो नहीं बचा, उन सबसे वह क्षमायाचना के साथ अपनी आत्मा को पावन करता है। कहीं मोह-ममता शेष तो नहीं रह गई, उन सबसे जुदा होना संथारा कहा गया है। परम तत्व में लीन होना सारे धर्मों में सर्वोत्तम साधना मानी गई है और संथारा भी उसी का एक त्यागमय स्वरूप है। जीने की कोई आस नहीं, मरने की कोई अभिलाषा नहीं, किसी की क्षति नहीं, किसी का कोई अहित नहीं, किसी का भी अनादर नहीं, इसे ही संथारा कहते हैं। महज खाना-पीना छोड़ना सल्लेखना नहीं है, वरन् अन्दर में उपजे राग-द्वेष, मोह-ममता को अन्तिम सांस तक मिटाना, यानी समस्त आसक्तियों से मुक्त होना संथारा है।³⁹

सल्लेखना धार्मिक रीति है, सामाजिक कुरीति नहीं, जबकि आत्मघात कुरीति है। कभी-कभी समाज की प्रताड़ना या अपेक्षित लाभ न मिलने पर व्यक्ति आत्मघात कर लेता है। आंध्रप्रदेश में 200 से अधिक किसानों द्वारा फसल चौपट हो जाने पर की गई आत्महत्या का प्रत्यक्ष उदाहरण है। कुछ कर्मचारी भी नौकरी चले जाने, अत्यधिक कर्ज बढ़ जाने या आन्दोलन की सफलता के लिए अति उत्साह या दबाव बनाने के लिए आत्महत्या/आत्मदाह कर लेते हैं। जबकि सल्लेखना में तो मोह, माया, राग-द्वेष को छोड़कर देह विसर्जन किया जाता है। सल्लेखनाधारी को किसी प्रकार का लोभ नहीं होता। सल्लेखनाधारी के लिए लोभ अतिचार दोष माना है। वह तो यश भी नहीं चाहता। अभी हाल ही में अगस्त 2015 में संथारा के विरुद्ध राजस्थान हाई कोर्ट में दायर याचिका में याचिकाकर्ता श्री निखिल सोनी के वकील श्री माधव मित्र ने इसे सामाजिक कुरीति बताया है तथा इसकी तुलना सती होने से की है। जो पूरी तरह अनुचित है। सल्लेखना सामाजिक कुरीति नहीं बल्कि धार्मिक रीति है। यह जीने के साथ मरने का अधिकार नहीं बल्कि पद तक छोड़ देता है। अतः इसे कुरीति कहना अनुचित और अप्रासंगिक है।

जस्टिस श्री टी.के. तुकोल का अभिमतः

इस विषय पर न्यायमूर्ति श्री टी. के. तुकोल भूतपूर्व उपकुलपति बेंगलोर युनिवर्सिटी की रचना सल्लेखना आत्महत्या नहीं है भी सारगर्भित दिशा निर्देश उपलब्ध कराती है। आपके मत में यह आत्महत्या जैसा कृत्य नहीं है, अपितु यह तो किसी प्रकार की आकांक्षा क्रोध एवं भ्रमपूर्व से मुक्त होने की अवस्था है। आपके मत में सल्लेखना को आत्महत्या न मानने का तर्कपूर्ण स्पष्टीकरण है।⁴⁰ सल्लेखना को ग्रहण करने वाला व्यक्ति धर्म के बंधन से मुक्त होना चाहता है। आत्म हत्या की तरह किसी पीड़ापूर्ण साधन से जीवन को तत्काल समाप्त करने की इच्छा नहीं होती है। सल्लेखना में किसी शर्म, निराशा अथवा भावनात्मक उत्तेजना से बचने का कोई प्रश्न नहीं होता है। स्वयं को अथवा स्वयं के परिवार के किसी सदस्य को कोई हानि पहुंचाने का आशय नहीं रहता है। (पृष्ठ 87) इसमें मृत्यु के बाबत न तो उतावलापन किया जाता है और न विलंब किया जाता है। इसमें संसार से पूरी तौर पर विरक्त होकर शांतिपूर्वक मृत्यु की प्रतीक्षा की जाती है। (पृष्ठ 88) इसमें किसी आकांक्षा क्रोध एवं भ्रांति से मुक्त होकर पवित्र विश्वास रखा जाता है। इसलिए आत्महत्या नहीं है। (पृष्ठ 90)

प्रसिद्ध चिन्तक कालेलकर ने इसके बारे में एक पुस्तक भी लिखी थी **Sallekhanna is not suicide-** इसका हिंदी अनुवाद 'परमसखा मृत्यु' नाम से कई बार छप चुका है। धरवाड़ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ. सेट्टर ने सल्लेखना के विज्ञान पर 'इन्वाइटिंग डैथ' और 'परसुइंग डैथ' नामक दो विशाल ग्रन्थों की रचना की है। माननीय उच्चतम न्यायालय दया-मृत्यु को मान्यता नहीं देता है और इसे असंवैधानिक कृत्य मानता है। सल्लेखना के कृत्य में शारीरिक पीड़ा से मुक्त होने के लिए जीवन समाप्ति की कोई भावना नहीं होती है, अपितु यह तो बिना किसी आकांक्षा के समता व सम्मापूर्वक कर्म क्षय की प्रक्रिया है। विधिक व आध्यात्मिक विचारधारा की विवेचना के आधार पर निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि सल्लेखना विशुद्ध तौर पर एक पवित्र धार्मिक कृत्य है। यह आत्मकल्याण के हेतु से अंगीभूत श्रेष्ठ अवस्था है समाधिमरण आगम से चलने वाली एक धर्मपूर्ण परम्परा है।

जैन परम्परा के तपस्वियों, मुनियों आर्यिकाओं, साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं को संथा में मरते समय भी समता और वीतराग भाव की मुद्रा में देखा जाता है। उसकी मुखमुद्रा प्रशांत होती है तथा मन में किसी किस्म की आकुलता-व्याकुलता नहीं दिखती। शास्त्रों में सल्लेखना का

उत्कृष्ट काल बारह वर्षों तक बतलाया है। दो या तीन महिनों से सिर्फ एक समय अन्न लेना, फिर हपतों बिना अन्न के मात्र फल और जल पर रहना, फिर शक्ति अनुसार फल का भी त्याग कर मात्र जल लेना, फिर सहजता के आधार पर यदि भाव परिणाम स्थित रहें तो जल भी छूट जाना, और इसी प्रकार 80-90 दिनों तक वृद्ध साधु साधवियों को आनन्द की मुद्रा में जिन भक्ति करते, आत्मानुभूति में रमते देखा जाता है। अतः उनका समाधिमरण जीवन और मरण की आकांक्षा से ऊपर उठा हुआ एक आध्यत्मिक तप है। संथारा-समाधिमरण तो भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल आदर्श है। कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में रघुवंशीय राजाओं के जीवनवृत्त का उल्लेख करते हुए कहा—“शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां, यौवने विषयैषणाम्, वार्धक्ये मुनिवृत्तिनां, योगेनान्ते तनुत्याजम्” इसमें योगपूर्वक शरीर त्याग का जो कथन हुआ है उससे ज्ञात होता है कि भारतीय परम्परा मृत्यु को योगसाधना पूर्वक वरण करने के पक्ष में रही है। साधक के अन्तिम मनोरथ पण्डितमरण को पूर्ण करने वाले आत्म साधकों के जिनशासन में एक समृद्ध परम्परा रही है।⁴¹

संलेखना एवं संथारा के साधकों की संख्या

जैन संस्कृति में संथारा प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही एक सर्वमान्य, सामान्य और सहज साधना है। विगत सौ वर्षों में अनेक प्रसिद्ध जैनाचार्यों, प्रसिद्ध सन्तों, प्रसिद्ध गृहस्थों ने संथारा लिया। सेवानिवृत्त कर्नल डॉ. डी.एस. बया (उदयपुर) ने अपने शोध-ग्रंथ ‘डेथ विद इक्केनिमिटी’ में अनेक प्रसिद्ध संथारा साधनाओं अथवा प्रसिद्ध व्यक्तियों के संथारों का उल्लेख किया है।

1950 में जैन दिवाकर चौथमलजी ने संथारा साधना के साथ महाप्रयाण किया। 1955 में जैनाचार्य शान्तिसागरजी ने संलेखना ग्रहण किया। उनके संथारा-काल में देश के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, उपराष्ट्रपति डॉ. एस. राधाकृष्णन तथा अनेक नामचीन व्यक्तियों सहित लाखों जैन व जैनेतर लोगों ने उनके दर्शन किये। जस्टिस टी. के. टुकोल ने उनकी संलेखना-साधना का मुक्त अनुमोदन किया। इसी प्रकार 1991 में आचार्य हस्तीमलजी के 13 दिवसीय तप-संथारा काल में राजस्थान के पाली जिले का छोटा-सा ग्राम निमाज धार्मिक एकता और सामाजिक समता का केन्द्र बन गया था। लाखों जैन-जैनेतर व्यक्तियों ने उनके दर्शन किये। अनेक जैनेतर व्यक्तियों ने भी संथारे की साधना की है। भारत-रत्न आचार्य विनोबा भावे (1895-1982) ने जब जान लिया कि अब शरीर साथ देने वाला नहीं है, तब उन्होंने समस्त इच्छाओं, औषधियों और आहार का त्याग कर दिया था यानी संथारा ग्रहण किया था। इन्दिराजी ने उन्हें समझाने के लिये वैद्य और डॉक्टर भेजे तब विनोबा ने कहा था—“मैं होश में जिया हूँ, होश में ही मरना चाहता हूँ, अब प्रभु का नाम ही मेरी औषधि है।” स्वतंत्रता सेनानी रामस्वरूप गर्ग ने भी संथारा लिया था।⁴²

जैन साधना-पद्धति के अनुसार कोई साधक असमय में मृत्यु को निमंत्रण नहीं देता परन्तु जब संयम पूर्वक जीने का अगर कोई उपाय शेष न रहे तब, अपने संयम की रक्षा के लिये शरीर का मोह छोड़कर आत्मलीन हो जाता है यह ऐसा ही है जैसे हम अपनी कोई प्रिय वस्तु फेंकना नहीं चाहते परन्तु हमारी नौका भारी होकर डूबने लगे तो बहुमूल्य को बचाने के लिये हम अल्पमूल्य वाली वस्तुओं को तत्काल नदी में फेंक देते हैं। संलेखना में भी जीवन की नाव डूबते समय साधना और संयम जैसी दुर्लभ और बहुमूल्य निधि को बचाने के लिये, साधक जनम-जनम में मिलने वाले सड़े गले शरीर जैसी तुच्छ वस्तु का मोह त्याग देता है। वह मृत्यु को माता के समान उपकारी मानता है क्योंकि मृत्यु ही जीव को जीर्ण-शीर्ण शरीर से छुड़ाकर नये शरीर में पहुँचाती है। संलेखना में निरत साधक न तो शीघ्र मरण की कामना करता है और न अधिक जीने की आकांक्षा ही करता है। वह अपनी अजर-अमर आत्मा के अनुभव में ऐसा लीन हो जाता है कि वह जीवन और मरण के विकल्पों से बहुत ऊपर उठ जाता है। उसके लिये इन दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं रहता।

जैन दर्शन विश्व का ऐसा दर्शन है जो मनुष्य को मृत्यु के भय से मुक्त कराकर, मृत्यु को ललकारने का या उसका सहर्ष स्वागत करने का कौशल सिखाता है। शरीर तो अंत में सड़-गल कर साथ छोड़ ही देता है। इसलिए मृत्यु का दूसरा नाम देहान्त या देहावसन है। संलेखना का साधक देह-वियोग का यह दुःख कभी नहीं भोगता। देह उसे छोड़े उसका देहावसान हो, इसके बहुत पहले

वह साधक देह का मोह छोड़ देता है। मृत्यु की अटलता को स्वीकार करके, अपने पूरे होशो-हवास के साथ वह मृत्यु के स्वागत के लिये अपने आपको तैयार कर लेता है। वह अपनी मृत्यु को बुलाता नहीं, पर उससे भयभीत भी नहीं होता। अंतर इतना ही है कि मौत की आहट सुनकर जब हर कोई उससे बचने के लिये रोता-तड़पता या लुकता-छिपता है तब सल्लेखना का साधक मौत को ललकारता है कि—हे मृत्यु, आओ, हम तो कब से तैयार बैठे हैं, देर तो तुमने आने में की है। ऐसी परम वीतरागी, उत्कृष्ट और वैज्ञानिक साधना को, उसका मर्म समझे बिना, मात्र हठाग्रह वश या किसी की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाने के गर्हित उद्देश्य से, आत्महत्या के साथ तुलना करना निन्दनीय है।⁴³

समाधिमरण : एक आध्यत्मिक तप एवं धार्मिक अराधना

इस प्रकार सल्लेखना या संथारा साधक की अंतःक्रिया है, धार्मिक अराधना है। इसको समझने के लिए थोड़ा धैर्य, गम्भीरता और दार्शनिक दृष्टि चाहिए। स्वतः मरणकाल निकट आने पर सभी प्रकार की भोगाकांक्षा, आसक्ति, चिंता, क्रोध, मान माया, लोभ विषाद, निराशा तथा हताशा आदि छोड़कर समत्वभाव में स्थित होकर देह का त्याग करना समाधिमरण संथारा या सल्लेखना लिया जाता है। आसक्ति कम होने से धीरे धीरे क्रमशः अन्न, फल, तथा जल की भी इच्छा और आवश्यकता वह महसूस नहीं करता। वह आत्मा के उस स्तर पर पहुँच जाता है जहाँ ये सब पदार्थ तुच्छ और हेय भासित होते हैं। जब शरीर से ही ममत्व नहीं रहा तब शरीर से जुड़े समस्त पदार्थों से उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती। वह मन ही मन मंत्र पाठ करता है और आत्मा का ध्यान लगाता है वह सभी से कृतं अपराधों की क्षमा याचना भी करता है। परलोक हो अथवा नहीं पर यह तो निश्चित है कि बोझिल आत्मा कहीं सुखी नहीं रहती। अतः वह प्रयास करता है कि मृत्यु से पहले जब तक बात हमारे हाथ में हैं, मैं जितना हो सके अपनी आत्मा को शुद्धतम बना लूँ। इसीलिए वह प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण भी करता है। समय पूरा होने पर शांत भाव से उसकी आयु स्वतः समाप्त हो जाती है। यह मृत्यु पर विजय है। जैनधर्म में त्याग और संयम के चरमोत्कर्ष रूप सल्लेखना को जन्म दिया। जीने की कला सिखाने का काम तो जैनधर्म में किया ही है, पर मरने की कला भी सिखाना जैनधर्म की विशेषता है। आराधना की धार्मिक साधना पूरी करने लिए यह सल्लेखना या संथारा गृहस्थ तथा साधु दोनों स्वेच्छा से किसी वरिष्ठ साधक के मार्गदर्शन में ले सकते हैं। यह उनका धार्मिक मौलिक अधिकार है।

संदर्भ

1. (क) भगवती आराधना : (शिवाय), सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, सोलापुर, 2006, प्रस्तावना, पृ. 36-37
(ख) भगवती आराधना-परिशीलन, सम्पा. प्रेम सुमन जैन, सांगानेर, 2008, पृ. 67-68
2. प्रेमी, नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, 1958, पृ. 61-69
3. जैन, रतनचन्द्र, जैन परम्परा और यापनीय संघ, भाग 3, सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा, 2009, पृ. 60-70
4. शास्त्री, नेमिचन्द्र, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 2, मुजफ्फरपुर, 1992, पृ. 122-128
5. भगवती आराधना : (शिवाय), सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, सोलापुर, चतुर्थ संस्करण, 2006, गाथा 261
6. मूलाचार, (वट्टकेर), सम्पा. आर्यिका गणिनी ज्ञानमती माताजी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, गा. 59
7. कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामीकार्तिकेय), संपा. ए. एन. उपाध्ये, आगास, 1978, गाथा 369, पृ. 270
8. पुरुषार्थसिद्धयुपाय (अमृतचन्द्र), श्लोक 175-176
9. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समन्तभद्र), वीर सेवा मंदिर, वाराणसी, 1972, सल्लेखना अधिकार, श्लोक 122
10. (क) कुन्दकुन्द भारती, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर, भक्तिसंगहो की आंचलिका, पृ. 284
(ख) भगवती आराधना : (शिवाय) भाग 2, गा. 1219, पृ. 616
11. सवार्थसिद्धि (पूज्यपाद), सम्पा. पं. फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 7/22 अनु. 705 पृ. 280
12. भगवती आराधना-परिशीलन, सम्पा. प्रेम सुमन जैन, सांगानेर, 2008, पृ. 134
13. भगवती आराधना (शिवाय), टीकाकार अपराजितसूरि, भाग 1, गा. 249, पृ. 257

14. सवार्थसिद्धि (पूज्यपाद), सम्पा. पं. फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ. 281
15. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समन्तभद्र), वीर सेवा मंदिर, वाराणसी, 1972, श्लोक 126–128
16. यशस्तिलकचम्पूगत– उपासकाध्ययन (सोमदेवसूरि), सम्पा. पं. सुन्दरलाल शास्त्री, 1971, अ. 8, श्लोक 439–447
17. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समन्तभद्र), वीर सेवा मंदिर, वाराणसी, 1972, अधिकार 6, श्लोक 1
18. सागार धर्माभूत (पं. आशाधर), – अ. 8, श्लोक 15
19. यशस्तिलकचम्पू (सोमदेवसूरि), सम्पा. पं. सुन्दरलाल शास्त्री, 1971, अ. 8, श्लोक 439–447
20. भगवती आराधना–परिशीलन, सम्पा. प्रेम सुमन जैन, सांगानेर, 2008, पृ. 200–201
21. चन्द्रगिरि के अभिलेख –कस्तूरचन्द्र सुमन, दिल्ली, 2006, पृ. 70–80
22. प्राकृत की पुरुषार्थ कथाएं, प्रेम सुमन जैन, जयपुर, 2015, पृ. 124–125
23. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समन्तभद्र), वीर सेवा मंदिर, वाराणसी, 1972, अधिकार 6, श्लोक 129
24. भगवती आराधना–परिशीलन, सम्पा. प्रेम सुमन जैन, सांगानेर, 2008, पृ. 187–194
25. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समन्तभद्र), वीर सेवा मंदिर, वाराणसी, 1972, अधिकार 6, श्लोक 130
26. कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामीकार्तिकेय), संपा. ए. एन. उपाध्ये, श्रीमद रामचंद्र आश्रम, आगास, 1978, गाथा 369
27. यशस्तिलकचम्पूगत– उपासकाध्ययन (सोमदेवसूरि), सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, 1964, अ. 8, श्लोक 447
28. भगवती आराधना : (शिवाय), सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, सोलापुर, चतुर्थ संस्करण, 2006, गाथा 1922, 1923
29. भगवती आराधना–परिशीलन, सम्पा. प्रेम सुमन जैन, सांगानेर, 2008, के विभिन्न आलेख
30. जिनवाणी (मासिक), सितम्बर 2015, पृ. 71–73
31. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 5
(ख) जैन धर्म में आराधना का स्वरूप–साध्वी दिव्यांजना, शाजापुर, 2007, पृ. 170
32. मूलाचार, (वट्टकेर), सम्पा. आर्यिका गणिनी ज्ञानमती माताजी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, –गा. 100
33. प्राच्य भारतीय ज्ञान–विज्ञान के महामेरु : आचार्य कुन्दकुन्द–डा. राजाराम जैन, दिल्ली, 2003, पृ. 57–70
34. सवार्थसिद्धि (पूज्यपाद), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृ. 263, 273
35. पुरुषार्थसिद्धयुपाय (अमृतचन्द्र), –श्लोक 179
36. जिनवाणी (मासिक), सितम्बर 2015, पृ. 35–36
37. भगवती आराधना–परिशीलन, सम्पा. प्रेम सुमन जैन, सांगानेर, 2008, पृ. 23–28
38. भगवती आराधना : (शिवाय), सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, सोलापुर, चतुर्थ संस्करण, 2006, गाथा 711, 712
39. जिनवाणी (मासिक), सितम्बर 2015, पृ. 39–41
40. भगवती आराधना : (शिवाय), सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, सोलापुर, चतुर्थ संस्करण, 2006, पृ. 326–328
41. जिनवाणी (मासिक), सितम्बर 2015, पृ. 71–73
42. जिनवाणी (मासिक), सितम्बर 2015, डा. दिलीप धींग का लेख, पृ. 55–56
43. सराक सोपान (मासिक), सितम्बर 2015, स्व. पं. नीरज जैन का लेख, पृ. 4–5

29. विद्या विहार कालोनी

उत्तरी सुन्दरवास

उदयपुर–313001

